प्रफुल्ल कोलख्यान

सभ्यता के गर्भाशय से जारी इस रिसाव के बारे में

इधर कवि अपनी नतनियों से खेलने में लीन थे
उधर सृष्टि संहार से गुजर रही थी
कवि के पास भी कहने के लिए बचा था बहुत कुछ
जो अंतत: साबित करता था
उनके कवि होने को

सत्य के साथ खड़े होने की कोशिश में ही तो हो जाता है,
वह सारा कुछ
जो नहीं होना चाहिए होता है किसी सभ्य समाज में,
किसी भी समय

विडंबना यह कि पूर्ण सत्य को हम झेल सकते नहीं और अर्धसत्य हमें नहीं झेल पाता है
अपने-अपने खंडित सत्य को अपनी-अपनी लहुलुहान मुट्ठियों में भींचे
हम कब समझ पाते हैं
रक्त जो बिना थरथराये चू रहा है निरंतर मुट्ठियों के बीच से
बूँद-बूँद ओस की तरह
सभ्यता के गर्भाशय से जारी इस रिसाव के बारे में दो टूक
कहा नहीं जा सकता इस समय कुछ भी
कि वह निकलता है घायल हेथलियों से या कि
सत्य के खंडित हृदय से या
अज्ञातवास में पड़े सत्य के किसी और मर्म से

किसके पास नहीं था सत्य जो मरे या मारे गये थे दंगे में
या जिन्होंने किया था शिकार हुड़दंगे में
सब की हथेलियों में ही तो था ऐसा सत्य
उनकी हथेलियों में भी जो निहायत ही शांतिप्रिय और चुप थे

किसी दूसरे के हाथों नहीं
अपनों के ही हाथों मारे जाते है हम निरपवाद

महाभारत हो या सुखियों के पीछे चीख के मशान पर बेलछी हो, गोधरा हो,
मेरठ, भागलपुर, मुजफ्फरनगर या अपनी सिसकियों में खामोश अहमदाबाद

अभिमन्यु ही नहीं दुर्योधन भी तो मारा गया था
अपनों के ही हाथ

एक ही धर्म था
मार्यादाच्युत रावण और मार्यादा पुरुषोत्तम राम का
दोनों को ही इष्ट और अभीष्ट थे
आशुतोष, औढरदानी, प्रलयंकर, शिव, शंकर
जो अंतत: रह गये थे नकुल
सत्य की सीता को दोनों ने ही
अपने पलड़े पर तौलना चाहा था अपने बटखरे से
दोनों ने शक्ति से काम लिया था
न कोई जीता था न कोई हारा था जैसा कि
होता ही है संग्राम में

अशोक वाटिका की छाया में जितना निरापद रहा
अंत तक शंकाओं की संस्कृतियों के बीच भी
खंडित गर्भ-भार के साथ अंतत: कहाँ टिक पाया
शंकातीत होकर अनंनतर अयोध्या के भव्य राजप्रासाद में ही
किसी के भी हाथ कहाँ आया वह कवि-कल्पित-सा सुराज
था जिसका आश्वासन और इंतजार
सत्य चुराता रहा मुँह जंगलों में
जिसे कभी पार नहीं कर पाया कोई शासनाध्यक्ष

दुहराते हुए कवि की वाणी गये नेहरू कि
तय करनी अभी बहुत दूरी जंगलों के पार
जंगल पार करने के लिए तेजी से बढ़ते गये कदम
सिर्फ हरियाली पीछे छूटती गई
जंगल के क्रूर अट्टहास का आतंक फैलता गया
बेकाबू लपट के साथ

धँसती चली गई जंगल की जिरह हमारे भीतर इस कदर
कि जब भी कुछ कहने के लिए खोलो मुँह तो
हो जाती है पूरी-की-पूरी भाषा ही एक भयावह जंगल

युग बदला सत्य जंगलों से निकलकर चेनलों में फँसा
भटकता रहा चैनल-दर-चैनल जेट पर तो कभी नेट पर
होता रहा लहुलुहान जो पहले से ही था हलकान
लगाता रहा चक्कर चारों ओर अखंड मशान के निर्विकार

इधर कवि अपनी नतनियों से खेलने में लीन थे
उधर सृष्टि संहार से गुजर रही थी
कवि के पास भी कहने के लिए बचा था बहुत कुछ
जो अंतत: साबित करता था
उनके कवि होने को और यह कि
अन्न के बिना मरे कुछ लोग
अखबार ने अब तक नहीं बताया
अच्छी कविता नहीं मिल पाने के कारण मरे कितने,
डूबे कितने, कितने हुए विकलांग

वे भी अपने सत्य से पराजित हुए जो मानते थे --
सत्य घायल होकर भी कराहता नहीं मंत्र छोड़ता है
समय का सबसे बड़ा सत्य कराहने ओर मंत्र छोड़ने को
साध लेता है एक साथ जनतंत्र के मैदान में

देखो-देखो वे आ रहे हैं, धीरे-धीरे
जिन्हें अपने होने पर ही गर्व है और
न है अपने करने पर जरा-सी भी शर्म
देखो-देखो वे आ रहे हैं, हँसते हुए, चुनौती की चाल!

(06 अक्तूबर 2013 को शीर्षक में बदलाव के साथ इस कविता में बेलछी,मेरठ, भागलपुर, मुजफ्फरनगर जोड़ा गया है)